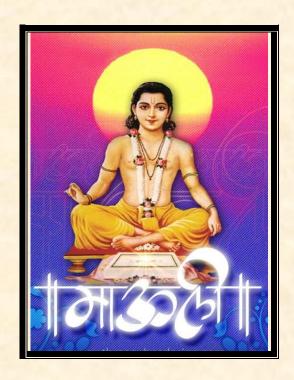
॥ श्रीहरि ॥ ॥ श्री ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका ॥ ॥ अध्याय पाचवा ॥

< (2) < (2) < (2) < (2) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3) < (3)



() > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () > 4 () >

हेचि आम्हां करणे काम । बीज वाढवावे नाम ॥

संतचरणरज बाळकृष्ण प्रकाश कदम जय हरि सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥ ॥ अध्याय पाचवा ॥ ॥ संन्यासयोगः ॥

अर्जुन उवाच संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंसिस । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १॥

मग पार्थु श्रीकृष्णातें म्हणे । हां हो हें कैसें तुमचें बोलणें । एक होय तरी अंतःकरणें । विचारूं ये ॥ १ ॥ मागां सकळ कर्मांचा सन्यासु । तुम्हींचि निरोपिला होता बहुवसु । तरी कर्मयोगीं केवीं अतिरसु । पोखीतसां पुढती ॥ २ ॥ ऐसें द्व्यर्थ हें बोलतां । आम्हां नेणतयांच्या चित्ता । आपुलिये चाडें श्रीअनंता । उमजु नोहे ॥ ३ ॥ ऐकें एकसारातें बोधिजे । तरी एकनिष्ठचि बोलिजे । हें आणिकीं काय सांगिजे। तुम्हांप्रति॥ ४॥ तरी याचिलागीं तुमतें । म्यां राउळासि विनविलें होतें । जें हा परमार्थु ध्वनितें । न बोलावा ॥ ५ ॥ परी मागील असो देवा । आतां प्रस्तुतीं उकलु देखावा । सांगैं दोहींमाजि बरवा । मार्गु कवणु ॥ ६ ॥ जो परिणामींचा निर्वाळा । अचुंबितु ये फळा । आणि अनुष्ठितां प्रांजळा । सावियाचि ॥ ७ ॥ जैसें निद्रेचें सुख न मोडे । आणि मार्गु तरी बहुसाल सांडे । तैसें सोहोकासन सांगडें । सोहपें होय ॥ ८ ॥

येणें अर्जुनाचेनि बोलें । देवो मनीं रिझले ।

मग होईल ऐकें म्हणितलें । संतोषोनियां ॥ ९ ॥

देखा कामधेनु ऐसी माये । सदैवा जया होये ।

तो चंद्रुही परी लाहे । खेळावया ॥ १० ॥

पाहे पां श्रीशंभूची प्रसन्नता । तया उपमन्यूचिया आर्ता ।

काय क्षीराब्धि दूधभाता । देइजेचिना ॥ ११ ॥

तैसा औदार्याचा कुरुठा । श्रीकृष्णु आपु जाहिलया सुभटा ।

कां सर्व सुखांचा वसौटा । तोचि नोहावा ॥ १२ ॥

एथ चमत्कारु कायसा । गोसावी श्रीलक्ष्मीकांता (ऐ) सा ।

आतां आपुलिया सवेसा । मागावा कीं ॥ १३ ॥

म्हणौनि अर्जुनें म्हणितलें । तें हांसोनि येरें दिधलें ।

तेंचि सांगेन बोलिलें । काय कृष्णें ॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच । संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २॥

तो म्हणे गा कुंतीसुता । हे संन्यासयोगु विचारितां । मोक्षकरु तत्त्वता । दोनीही होती ॥ १५ ॥ तरी जाणां नेणां सकळां । हा कर्मयोगु कीर प्रांजळा । जैसी नाव स्त्रियां बाळां । तोयतरणी ॥ १६ ॥ तैसें सारासार पाहिजे । तरी सोहपा हाचि देखिजे । येणें संन्यासफळ लाहिजे । अनायासें ॥ १७ ॥ आतां याचिलागीं सांगेन । तुज संन्यासियाचें चिन्ह । मग सहजें हें अभिन्न । जाणसी तूं ॥ १८ ॥

<</p>

<</p>
<</p>

<</p>

<</p>

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३॥

तरी गेलियाची से न करी । न पवतां चाड न धरी । जो सुनिश्चळु अंतरीं । मेरु जैसा ॥ १९ ॥ आणि मी माझें ऐसी आठवण । विसरलें जयाचें अंत:करण । पार्था तो संन्यासी जाण । निरंतर ॥ २० ॥ जो मनें ऐसा जाहला । संगीं तोचि सांडिला । म्हणौनि सुखें सुख पावला । अखंडित ॥ २१ ॥ आतां गृहादिक आघवें । तें कांहीं नलगे त्यजावें । जें घेतें जाहलें स्वभावें । निःसंगु म्हणौनि ॥ २२ ॥ देखें अग्नि विझोनि जाये । मग जे राखोंडी केवळु होये । तैं ते कापुसें गिंवसूं ये । जियापरी ॥ २३ ॥ तैसा असतेनि उपाधी । नाकळिजे तो कर्मबंधीं । जयाचिये बुद्धी । संकल्पु नाहीं ॥ २४ ॥ म्हणौनि कल्पना जैं सांडे । तैंचि गा संन्यासु घडे । इयें कारणें दोनी सांगडे । संन्यासयोगु ॥ २५ ॥

> सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४॥

ए-हवीं तरी पार्था । जे मूर्ख होती सर्वथा । ते सांख्ययोगुसंस्था । जाणती केवीं ॥ २६ ॥ सहजें ते अज्ञान । म्हणौनि म्हणती ते भिन्न । ए-हवीं दीपाप्रति काई आनान । प्रकाशु आहाती ॥ २७ ॥ पैं सम्यक् येणें अनुभवें । जिहीं देखिलें तत्त्व आघवें । तें दोहींतेंही ऐक्यभावें । मानिती गा ॥ २८ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरिप गम्यते । एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्चित ॥ ५॥

आणि सांख्यीं जें पाविजे । तेंचि योगीं गमिजे । म्हणौनि ऐक्य दोहींतें सहजें । इयापरी ॥ २९ ॥ देखें आकाशा आणि अवकाशा । भेदु नाहीं जैसा । तैसें ऐक्य योगसंन्यासा । वोळखे जो ॥ ३० ॥ तयासीचि जगीं पाहलें । आपणपें तेणेंचि देखिलें । जया सांख्ययोग जाणवले । भेदेंविण ॥ ३१ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्बह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६॥

जो युक्तिपंथें पार्था । चढे मोक्षपर्वता । तो महासुखाचा निमथा । वहिला पावे ॥ ३२ ॥ येरा योगस्थिति जया सांडे । तो वायांचि गा हव्यासीं पडे । परि प्राप्ति कहीं न घडे । संन्यासाची ॥ ३३ ॥ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्निप न लिप्यते ॥ ७॥

जेणें भ्रांतीपासूनि हिरतलें । गुरुवाक्यें मन धुतलें । मग आत्मस्वरूपीं घातलें । हारौनियां ॥ ३४ ॥ जैसें समुद्रीं लवण न पडे । तंव वेगळें अल्प आवडे । मग होय सिंधूचि एवढें । मिळे तेव्हां ॥ ३५ ॥ तैसें संकल्पोनि काढिलें । जयाचें मनचि चैतन्य जाहलें । तेणें एकदेशियें परी व्यापिलें । लोकत्रय ॥ ३६ ॥ आतां कर्ता कर्म करावें । हें खुंटलें तया स्वभावें । आणि करी जर्ही आघवें । तर्ही अकर्ता तो ॥ ३७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यञ्श्रृणवन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्ननगच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्निप । इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९॥

जे पार्था तया देहीं । मी ऐसा आठऊ नाहीं । तरी कर्तृत्व कैचैं काई । उरे सांगैं ॥ ३८ ॥ ऐसें तनुत्यागेंवीण । अमूर्ताचे गुण । दिसती संपूर्ण । योगयुक्तां ॥ ३९ ॥ ए-हवीं आणिकांचिये परी । तोही एक शरीरी । अशेषाही व्यापारीं । वर्ततु दिसे ॥ ४० ॥ तोही नेत्रीं पाहे । श्रवणीं ऐकतु आहे ।

परि तेथींचा सर्वथा नोहे । नवल देखें ॥ ४१ ॥ स्पर्शासि तरी जाणे । परिमळु सेवी घ्राणें । अवसरोचित बोलणें । तयाहि आथी ॥ ४२ ॥ आहारातें स्वीकारी । त्यजावें तें परिहरी । निद्रेचिया अवसरीं । निदिजे सुखें ॥ ४३ ॥ आपुलेनि इच्छावशें । तोही गा चालतु दिसे । पैं सकळ कर्म ऐसें । रहाटे कीर ॥ ४४ ॥ हें सांगों काई एकैक । देखें श्वासोच्छ्वासादिक । आणि निमिषोन्निमिष । आदिकरूनि ॥ ४५ ॥ पार्था तयाचे ठायीं । हं आघवेंचि आथि पाहीं । परी तो कर्ता नव्हे कांहीं । प्रतीतिबळें ॥ ४६ ॥ जैं भ्रांति सेजे सुतला । तैं स्वप्नसुखें भुतला । मग तो ज्ञानोदयीं चेइला । म्हणौनियां ॥ ४७ ॥ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १०॥ आतां अधिष्ठानसंगती । अशेषाही इंद्रियवृत्ती । आपुलालिया अर्थीं । वर्तत आहाती ॥ ४८ ॥ दीपाचेनि प्रकाशें । गृहींचे व्यापार जैसे ।

देहीं कर्मजात तैसे । योगयुक्ता ॥ ४९ ॥

तो कर्में करी सकळें । परी कर्मबंधा नाकळे ।

जैसें न सिंपे जळीं जळें । पद्मपत्र ॥ ५० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरिप । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११॥

देखें बुद्धीची भाष नेणिजे । मनाचा अंकुर नुदैजे । ऐसा व्यापारु तो बोलिजे । शारीरु गा ॥ ५१ ॥ हेंच मराठे परियेशीं । तरी बाळकाची चेष्टा जैशी । योगिये कर्में करिती तैशीं । केवळा तनु ॥ ५२ ॥ मग पांचभौतिक संचलें । जेव्हां शरीर असे निदेलें । तेथ मनचि रहाटें एकलें । स्वप्नीं जेवीं ॥ ५३ ॥ नवल ऐकें धनुर्धरा । कैसा वासनेचा संसारा । देहा होऊं नेदी उजगरा । परी सुखदुःखें भोगी ॥ ५४ ॥ इंद्रियांच्या गांवीं नेणिजे । ऐसा व्यापारु जो निपजे । तो केवळु गा म्हणिजे । मानसाचा ॥ ५५ ॥ योगिये तोही करिती । परी कर्में तें न बंधिजती । जे सांडिली आहे संगती । अहंभावाची ॥ ५६ ॥ आतां जाहालिया भ्रमहत । जैसें पिशाचाचें चित्त । मग इंद्रियांचें चेष्टित । विकळु दिसे ॥ ५७ ॥ स्वरूप तरी देखे । आळविलें आइके । शब्दु बोले मुखें। परी ज्ञान नाहीं ॥ ५८ ॥ हें असो काजेंविण । जें जें कांहीं करण । तें केवळ कर्म जाण । इंद्रियांचें ॥ ५९ ॥ मग सर्वत्र जें जाणतें । ते बुद्धीचें कर्म निरुतें । ओळख अर्जुनातें । म्हणे हरी ॥ ६० ॥ ते बुद्धी धुरे करुनी । कर्म करिती चित्त देऊनी ।

(2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) >

परी ते नैष्कर्म्यापासुनी । मुक्त दिसती ॥ ६१ ॥ जें बुद्धीचिये ठावूनि देही । तयां अहंकाराची सेचि नाहीं । म्हणौनि कर्म करितां पाहीं । चोखाळले ॥ ६२ ॥ अगा करितेनवीण कर्म । तेंचि तें नैष्कर्म्य । हें जाणती सुवर्म । गुरुगम्य जें ॥ ६३ ॥ आतां शांतरसाचें भरितें । सांडीत आहे पात्रातें । जें बोलणें बोलापरौतें । बोलवलें ॥ ६४ ॥ एथ इंद्रियांचा पांगु । जया फिटला आहे चांगु । तयासीचि आथि लागु । परिसावया ॥ ६५ ॥ हा असो अतिप्रसंगु । न संडी पां कथालागु । होईल श्लोकसंगति भंगु । म्हणौनियां ॥ ६६ ॥ जें मना आकळितां कुवाडें । घाघुसितां बुद्धी नातुडे । तें दैवाचेनि सुरवाडें । सांगवलें तुज ॥ ६७ ॥ जें शब्दातीत स्वभावें । तें बोलींचि जरी फावे । तरी आणिकें काय करावें । कथा सांगैं ॥ ६८ ॥ हा आर्तिविशेषु श्रोतयांचा । जाणोनि दास निवृत्तीचा । म्हणे संवादु दोघांचा । परिसोनि परिसा ॥ ६९ ॥ मग श्रीकृष्ण म्हणे पार्थातें । आतां प्राप्ताचें चिन्ह पुरतें । सांगेन तुज निरुतें। चित्त देई ॥ ७० ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२॥

तरी आत्मयोगें आथिला । जो कर्मफळाशीं विटला । तो घर रिघोनि वरिला । शांति जगीं ॥ ७१ ॥ येरु कर्मबंधें किरीटी । अभिलाषाचिया गांठीं । कळासला खुंटी । फळभोगाच्या ॥ ७२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३॥

जैसा फळाचिये हांवें । तैसें कर्म करी आघवें ।

मग न कीजेचि येणें भावें । उपेक्षी जो ॥ ७३ ॥

तो जयाकडे वासु पाहे । तेउती सुखाची सृष्टि होये ।

तो म्हणे तेथ राहे । महाबोधु ॥ ७४ ॥

नवद्वारें देहीं । तो असतुचि पिर नाहीं ।

करितुचि न करी कांहीं । फलत्यागी ॥ ७५ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजित प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४॥

जैसा कां सर्वेश्वरू । पाहिजे तंव निर्व्यापारु । पिर तोचि रची विस्तारु । त्रिभुवनाचा ॥ ७६ ॥ आणि कर्ता ऐसें म्हणिपे । तरी कवणें कर्मीं न शिंपें । जे हातुपावो न लिंपे । उदासवृत्तीचा ॥ ७७ ॥ योगनिद्रा तरी न मोडे । अकर्तेपणा सळु न पडे । परी महाभूतांचें दळवाडें । उभारी भले ॥ ७८ ॥ जगाच्या जीवीं आहे । परी कवणाचा कहीं नोहे ।

<\$\forall \(\forall \) \(\fo

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५॥

पापपुण्यें अशेषें । पासींचि असतु न देखें । आणि साक्षीही होऊं न ठके । येरी गोठी कायसी ॥ ८० ॥ पैं मूर्तीचेनि मेळें । तो मूर्तिच होऊनि खेळे । परि अमूर्तपण न मैळे । दादुलयाचें ॥ ८१ ॥ तो सृजी पाळी संहारी । ऐसें बोलती जे चराचरीं । तें अज्ञान गा अवधारीं । पंडुकुमरा ॥ ८२ ॥

> ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६॥

तें अज्ञान जैं समूळ तुटे । तै भ्रांतीचें मसैरें फिटे ।

मग अकर्तृत्व प्रगटे । मज ईश्वराचें ॥ ८३ ॥
एथ ईश्वरु एकु अकर्ता । ऐसें मानलें जरी चित्ता ।
तरी तोचि मी हें स्वभावता । आदीचि आहे ॥ ८४ ॥
ऐसेनि विवेकें उदो चित्तीं । तयासी भेदु कैंचा त्रिजगतीं ।
देखें आपुलिया प्रतीति । जगचि मुक्त ॥ ८५ ॥
जैशी पूर्विदशेच्या राउळीं । उदया येतांचि सूर्य दिवाळी ।
कीं येरीही दिशां तियेचि काळीं । काळिमा नाहीं ॥ ८६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठातत्परायणः । गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७॥

बुद्धिनिश्चयें आत्मज्ञान । ब्रह्मरूप भावी आपणा आपण । ब्रह्मिन्छा राखे पूर्ण । तत्परायण अहर्निशीं ॥ ८७ ॥ ऐसें व्यापक ज्ञान भलें । जयांचिया हृदया गिंवसित आलें । तयांची समता हृष्टि बोलें । विशेषूं काई ॥ ८८ ॥ एक आपणपांचि जैसें । ते देखतीं विश्व तैसें । हें बोलणें कायसें । नवलु एथ ॥ ८९ ॥ परी दैव जैसें कवितकें । कहींचि दैन्य न देखे । कां विवेकु हा नोळखे । भ्रांतीतें जेवीं ॥ ९० ॥ नातरी अंधकाराची वानी । जैसा सूर्यो न देखे स्वप्नीं । अमृत नायके कानीं । मृत्युकथा ॥ ९१ ॥ हें असो संतापु कैसा । चंद्रु न स्मरे जैसा । भूतीं भेदु नेणती तैसा । ज्ञानिये ते ॥ ९२ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८॥

मग हा मशकु हा गजु । कीं हा श्वपचु हा द्विजु ।
पैल इतरु हा आत्मजु । हैं उरेल कें ॥ ९३ ॥
ना तरी हे धेनु हें श्वान । एक गुरु एक हीन ।
हें असो कैचें स्वप्न । जागतया ॥ ९४ ॥
एथ भेदु तरी कीं देखावा । जरी अहंभाव उरला होआवा ।
तो आधींचि नाहीं आघवा । आतां विषमु काई ॥ ९५ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९॥

म्हणौनि सर्वत्र सदा सम । तें आपणचि अद्वय ब्रह्म । हें संपूर्ण जाणें वर्म । समदृष्टीचें ॥ ९६ ॥ जिहीं विषयसंगु न सांडितां । इंद्रियांतें न दंडितां । परी भोगिली निसंगता । कामनेविण ॥ ९७ ॥ जिहीं लोकांचेनि आधारें। लौकिकेंचि व्यापारें। परि सांडिलें निदसुरें । लौकिकु हें ॥ ९८ ॥ जैसा जनामाजि खेचरु । असतुचि जना नोहे गोचरु । तैसा शरीरीं परी संसारु । नोळखे तयांतें ॥ ९९ ॥ हें असो पवनाचेनि मेळें । जैसें जळींचि जळ लोळे । तें आणिकें म्हणती वेगळें । कल्लोळ हे ॥ १०० ॥ तैसें नाम रूप तयाचें । ए-हवीं ब्रह्मचि तो साचें । मन साम्या आलें जयाचें । सर्वत्र गा ॥ १०१ ॥ ऐसेनि समद्दष्टी जो होये । तया पुरुषा लक्षणही आहे । अर्जुना संक्षेपें सांगेन पाहें । अच्युत म्हणे ॥ १०२ ॥

न प्रहृष्योत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०॥

तरी मृगजळाचेनि पूरें । जैसें न लोटिजे कां गिरिवरें । तैसा शुभाशुभीं न विकरे । पातिलया जो ॥ १०३ ॥ तोचि तो निरुता । समदृष्टी तत्त्वतां । हरि म्हणे पंडुसुता । तोचि ब्रह्म ॥ १०४ ॥

< (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2) > < (2)

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् । स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१॥

जया आपणपें सांडूनि कहीं । इंद्रियग्रामावरी येणेंचि नाहीं । तो विषय न सेवी हें काई । विचित्र येथ ॥ १०५ ॥ सहजें स्वसुखाचेनि अपारें । सुरवाडलेनि अंतरें । रचिला म्हणौनि बाहिरें । पाउल न घाली ॥ १०६ ॥ सांगैं कुमुददळाचेनि ताटें । जो जेविला चंद्रिकरणें चोखटें । तो चकोरु काई वाळुवंटें । चुंबितु असे ॥ १०७ ॥ तैसें आत्मसुख उपाइलें । जयासि आपणपेंचि फावलें । तया विषयो सहजें सांडवले । म्हणो काई ॥ १०८ ॥ ए-हवीं तरी कौतुकें । विचारूनि पाहें पां निकें । या विषयांचेनि सुखें । झकविती कवण ॥ १०९ ॥

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२॥

जिहीं आपणपें नाहीं देखिलें । तेचि इहीं इंद्रियार्थीं रंजले । जैसें रंकु कां आळुकैलें । तुषांतें सेवी ॥ ११० ॥ नातरी मृगें तृषापीडितें । संभ्रमें विसरोनि जळांतें । मग तोयबुद्धी बरडीतें । ठाकूनि येती ॥ १११ ॥ तैसें आपणपें नाहीं दिठे । जयातें स्वसुखाचे सदा खरांटे । तयासीचि विषय हे गोमटे । आवडती ॥ ११२ ॥ ए-हवीं विषयीं सुख आहे । हे बोलणेंचि सारिखें नोहे । तरी विद्युत्स्फुरणें कां न पाहे । जगामाजीं ॥ ११३ ॥

सांगैं वात वर्ष आतपु धरे । ऐसे अभ्रच्छायाचि जरी सरे । तरी त्रिमाळिकें धवळारें । करावीं कां ॥ ११४ ॥ म्हणौनि विषयसुख जें बोलिजे । तें नेणतां गा वायां जल्पिजे । जैसें महर कां म्हणिजे । विषकंदातें ॥ ११५ ॥ नातरी भौमा नाम मंगळु । रोहिणीतें म्हणती जळु । तैसा सुखप्रवादु बरळु । विषयिकु हा ॥ ११६ ॥ हे असो आघवी बोली । सांग पां सर्पफणीचा साउली । ते शीतल होईल केतुली । मूषकासी ॥ ११७ ॥ जैसा आमिषकवळु पांडवा । मीनु न सेवी तंवचि बरवा । तैसा विषयसंगु आघवा । निभ्रांत जाणें ॥ ११८ ॥ हे विरक्तांचिये दिठी । जैं न्याहाळिजे किरीटी । तैं पांडुरोगाचिये पुष्टी- । सारिखें दिसे ॥ ११९ ॥ म्हणौनि विषयभोगीं जें सुख । तें साद्यंतिच जाण दुःख । परि काय कीजे मूर्ख । न सेवितां न सरे ॥ १२० ॥ तें अंतर नेणती बापुडे । म्हणौनि अगत्य सेवणें घडे । सांगें प्रयपंकींचे किडे। काय चिळसी घेती॥ १२१॥ तयां दु:खियां दु:खिच जिव्हार । ते विषयकर्दमींचे दर्दर । ते भोगजळींचे जळचर । सांडिती केवीं ॥ १२२ ॥ आणि दुःखयोनि जिया आहाती । तिया निरर्थका तरी नव्हती । जरी विषयांवरी विरक्ती । धरिती जीव ॥ १२३ ॥ नातरी गर्भवासादि संकट । कां जन्ममरणींचे कष्ट । हे विसांवेवीण वाट । वाहावी कवणें ॥ १२४ ॥ जरी विषयीं विषयो सांडिजेल । तरी महादोषीं कें विसजेल ।

4\$><\$><\$><\$><\$><\$><\$><\$><\$>

आणि संसारु हा शब्दु नव्हेल । लटिका जगीं ॥ १२५ ॥ म्हणौनि अविद्याजात नाथिलें । तें तिहींचि साच दाविलें । जिहीं सुखबुद्धी घेतलें । विषयदुःख ॥ १२६ ॥ या कारणें गा सुभटा । हा विचारितां विषय वोखटा । तूं झणें कहीं या वाटा । विसरोनि जाशी ॥ १२७ ॥ पैं यातें विरक्त पुरुष । त्यजिती कां जैसें विष । निराशा तयां दुःख । दाविलें नावडे ॥ १२८ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्षरीरिवमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३॥

ज्ञानियांच्या हन ठायीं । याची मातुही कीर नाहीं ।
देहीं देहभावो जिहीं । स्ववश केले ॥ १२९ ॥
जयांतें बाह्याची भाष । नेणिजेचि निःशेष ।
अंतरीं सुख । एक आधि ॥ १३० ॥
परि तें वेगळेपणें भोगिजे । जैसें पिक्षयें फळ चुंबिजे ।
तैसें नव्हे तेथ विसरिजे । भोगितेपणही ॥ १३१ ॥
भोगीं अवस्था एकी उठी । ते अहंकाराचा अंचळु लोटी ।
मग सुखेंसि घे आंटी । गाढेपणें ॥ १३२ ॥
तिये आलिंगनमेळीं । होय आपेंआप कवळी ।
तेथ जळ जैसें जळीं । वेगळें न दिसे ॥ १३३ ॥
कां आकाशीं वायु हारपे । तेथ दोन्ही हे भाष लोपे ।
तैसे सुखचि उरे स्वरूपें । सुरतीं तिये ॥ १३४ ॥

ऐसी द्वैताची भाष जाय । मग म्हणों जरी एक होय । तरी तथ साक्षी कवणु आहे । जाणते जें ॥ १३५ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः । स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५॥

म्हणौनि असो हें आघवें । एथ न बोलणें काय बोलावें । ते खुणाचि पावले स्वभावें । आत्माराम ॥ १३६ ॥ जे ऐसेनि सुखें मातले । आपणपांचि आपण गुंतले । ते मी जाणें निखळ वोतले । सामरस्याचे ॥ १३७ ॥ ते आनंदाचे अनुकार । सुखाचे अंकुर । कीं महाबोधें विहार । केले जैसे ॥ १३८ ॥ ते विवेकाचें गांव । कीं परब्रम्हींचे स्वभाव । नातरी अळंकारले अवयव । ब्रह्मविद्येचे ॥ १३९ ॥ ते सत्त्वाचे सात्त्विक । कीं चैतन्याचे आंगिक । हें बहु असो एकैक । वानिसी काई ॥ १४० ॥ तूं संतस्तवनीं रतसी । तरी कथेची से न करिसी । कीं निराळीं बोल देखसी । सनागर ॥ १४१ ॥ परि तो रसातिशयो मुकुळीं । मग ग्रंथार्थदीपु उजळीं । करी साधुहृदयराउळीं । मंगळौखा ॥ १४२ ॥ ऐसा श्रीगुरूचा उवायिला । निवृत्तिदासासी पातला । मग तो म्हणे श्रीकृष्ण बोलिला । तेंचि आइका ॥ १४३ ॥

अर्जुना अनंत सुखाच्या डोहीं । एकसरा तळुचि घेतला जिहीं ।

मग स्थिराऊनि तेही । तेंचि जाहले ॥ १४४ ॥
अथवा आत्मप्रकाशें चोखें । जो आपणपेंचि विश्व देखे ।

तो देहेंचि परब्रह्म सुखें । मानूं येईल ॥ १४५ ॥
जें साचोकारें परम । ना तें अक्षर निःसीम ।
जिये गांवींचे निष्काम । अधिकारिये ॥ १४६ ॥
जे महर्षीं वाढले । विरक्तां भागा फिटलें ।
जे निःसंशया पिकलें । निरंतर ॥ १४७ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६॥

जिहीं विषयांपासोनि हिरतलें । चित्त आपुलें आपण जिंतिलें ।
ते निश्चित जेथ सुतले । चेतीचिना ॥ १४८ ॥
तें परब्रह्म निर्वाण । जें आत्मविदांचें कारण ।
तेंचि ते पुरुष जाण । पंडुकुमरा ॥ १४९ ॥
ते ऐसे कैसेंनि जहाले । जे देहींचि ब्रह्मत्वा आले ।
हें पुससी तरी भलें । संक्शेपें सांगों ॥ १५० ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः । प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८॥

तरी वैराग्याचेनि आधारें । जिहीं विषय दवडूनि बाहिरें । शरीरीं एकंदरें । केलें मन ॥ १५१ ॥ सहजें तिहीं संधी भेटी । जेथ भ्रुपल्लवां पडे गांठी । तेथ पाठिमोरी दिठी । पारखोनियां॥ १५२ ॥ सांड्रिन दक्षिण वाम । प्राणापानसम । चित्तेंसीं व्योम- । गामिये करिती॥ १५३ ॥ तेथ जैसीं रथ्योदकें सकळें । घेऊनि गंगा समुद्रीं मिळे । मग एकेकु वेगळें । निवडूं नये॥ १५४ ॥ तैसी वासनांतराची विवंचना । मग आपैसी पारुखे अर्जुना । जे वेळीं गगनीं लयो मना । पवनें कीजे ॥ १५५ ॥ जेथ हें संसारचित्र उमटे । तो मनोरूपु पटु फाटे । जैसें सरोवर आटे । मग प्रतिभा नाहीं॥ १५६॥ तैसें मन एथ मुद्दल जाय । मग अहंभावादिक कें आहे । म्हणौनि शरीरेंचि ब्रह्म होये । अनुभवी तो ॥ १५७ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छिति ॥ २९॥

ॐ तत्सिदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंज्ञासयोगोनाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

आम्हीं मागां हन सांगितलें । जे देहींचि ब्रह्मत्व पावले । ते येणें मार्गें आले । म्हणौनियां ॥ १५८ ॥ आणि यमनियमांचे डोंगर । अभ्यासाचे सागर ।

क्रमोनि हे पार । पातले ते॥ १५९ ॥ तिहीं आपणपें करूनि निर्लेप । प्रपंचाचें घेतलें माप । मग साचाचेंचि रूप । होऊनि ठेले॥ १६० ॥ ऐसा योगयुक्तीचा उद्देशु । जेथ बोलिला हषीकेशु । तेथ अर्जुनु सुदंशु । म्हणौनि चमत्कारला॥ १६१ ॥ तें देखिलिया कृष्णें जाणितलें । मग हांसोनि पार्थातें म्हणितलें । काई पां चित्त उवाइलें । इये बोलीं तुझें ॥ १६२ ॥ तंव अर्जुन म्हणे देवो । परचित्तलक्षणांचा रावो । भला जाणितला जी भावो । मानसु माझा॥ १६३ ॥ म्यां जें कांहीं विवरोनि पुसावें । तें आधींचि जाणितलें देवें । तरी बोलिलें तेंचि सांगावें । विवळ करूनि॥ १६४ ॥ ए-हवीं तरी अवधारा । जो दाविला तुम्हीं अनुसारा । तो पव्हण्याहूनि पायौतारा । सोहपा जैसा॥ १६५ ॥ तैसा सांख्याहूनि प्रांजळा । परी आम्हांसारिखियां अभोळां । एथ आहाति परि कांहीं काळा । तो साहों ये वर ॥ १६६ ॥ म्हणौनि एक वेळ देवा । तोचि पडताळा घेयावा । विस्तरेल तरी सांगावा । साद्यंतुचि॥ १६७ ॥ तंव श्रीकृष्ण म्हणती हो कां । तुज हा मार्गु गमला निका । तरी काय जाहलें आईकीजो कां। सुखें बोलों॥ १६८॥ अर्जुना तूं परिससी । परिसोनि अनुष्ठिसी । तरी आम्हांसीचि वानी कायसी । सांगावयाची ॥ १६९ ॥ आधींचि चित्त मायेचें । वरी मिष जाहले पढियंतयाचें । आतां तें अद्भुतपण स्नेहाचें । कवण जाणे॥ १७० ॥

तें म्हणो कारुण्यरसाची वृष्टि । कीं नवया स्नेहाची सृष्टि । हें असो नेणिजे दृष्टी । हरीची वानूं ॥ १७१ ॥ जे अमृताची वोतली । कीं प्रेमचि पिऊनि मातली । म्हणौनि अर्जुनमोहें गुंतली । निघों नेणें ॥ १७२ ॥ हें बहु जें जें जिल्पजेल । तेथें कथेसि फांकु होईल । परि तें स्नेहरूपा न येल । बोलवरी॥ १७३ ॥ म्हणौनि विसुरा काय येणें । तो ईश्वरु कवळावा कवणें । जो आपुलें मान नेणें। आपणचि॥ १७४॥ तरी मागीला ध्वनीआंतु । मज गमला सावियाचि मोहितु । जे बलात्कारें असे म्हणतु । परिस बापा॥ १७५ ॥ अर्जुना जेणें जेणें भेदें । तुझें कां चित्त बोधे। तैसें तैसें विनोदें । निरूपिजेल ॥ १७६ ॥ तो काइसया नाम योगु । तयाचा कवण उपेगु । अथवा अधिकारप्रसंगु । कवणा येथ ॥ १७७ ॥ ऐसें जें जें कांहीं । उक्त असे इये ठाईं । तें आघवेंचि पाहीं । सांगेन आतां॥ १७८ ॥ तूं चित्त देऊनि अवधारीं । ऐसें म्हणौनि श्रीहरी । बोलिजेल ते पुढारी । कथा आहे॥ १७९ ॥ श्रीकृष्ण अर्जुनासी संगु । न सांडोनि सांगेल योगु । तो व्यक्त करूं प्रसंगु । म्हणे निवृत्तिदासु॥ १८० ॥ इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां पंचमोऽध्यायः ॥

<</p>

<</p>

</

< (2) > < (2) > < (2) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3)

॥ रामकृष्णहरि ॥

सेवाभावी संतचरणरज

बाळकृष्ण प्रकाश कदम

जय हरि सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर
(इतर PDF ग्रंथासाठी संपर्क - ९७६५६५३८०५)
